24 ऊँची कुर्सी, इतनी ऊँची

नीरजा राघवन

'आओ इस कुर्सी पर चढ़ जाओ'
एक दिन, जीवन ने मुझसे कहा,
'और, ऊपर से चारों ओर का
निरीक्षण करो, नजर पहुँचे जहाँ।'

शायद यह बहुत ज्यादा ऊँची है
अफसोस कि मैं नहीं उतनी लम्बी,
झिझकते हुए मैं कोशिश करूँगी
पर गिर न जाऊँ, है यह डर भी!'

उसने सन्देह भरे शब्द मेरे सुने
जीवन बिलकुल नहीं डगमगाया,
बल्कि उसने हाथ बढ़ाया आगे
भय, बदल आशा में दूर भगाया।

लिए सुन्दरता, अपने में समाए
स्नेह की ऊष्मा और अच्छाई,
ऊँची लगने वाली वह कुर्सी
खिसक नीचे कुछ पास आई।

बात अजब थी पर उस ढंग में
कुर्सी कुछ खिसक–सी जाती,
अक्सर ऊँचाई बदलती जाती
ऐसी कि मैं लड़खड़ा ही जाती!

लगने लगता जैसे ही मुझे
सहज हो गई मैं कुर्सी में,
टाँगें उसकी धसने लगतीं
हलचल मचती मेरे पेट में।

जैसे ही कुर्सी से उतरती
आसपास के लोग सभी,
तत्काल मुझे वापिस बैठाते
और फिर सवाल करते वही।

'कैसे हमसे यूँ बात करती हो
बैठकर कुर्सी की गरमाई से?
समझे थे तुम हममें से ही हो
कब नीचे आओगी ऊँचाई से?'

मैं करती उन्हें आश्वस्त
चाहती हूँ भला तुम्हारा,
पर जो बैठेगा कुर्सी पर
चाहेगा वह जवाब तुम्हारा!

'पर हमें नहीं है आदत इसकी'
गुस्साई आँखों से उत्तर आता,
'जब तक बैठी रहोगी कुर्सी पर
काम साथ तुम्हारे नहीं हो पाता।'

झट उतर आती कुर्सी से
मैं फुर्ती से और मुस्कराती,
लेकिन चीजों को ठीक न पाती
सारी व्यवस्था बिखर सी जाती।

तब धैर्य और जोश लिए मैं
फिर कुर्सी पर लौट जाती,
कोशिश करती हर प्रकार
कठोर होने से सकुचाती।

माथे पर बल, कन्धे उचकाना
कुर्सी है ऊँची, आँख घुमाना,
होते ही अहसास इस सबका
झुँझलाहट को परे धकियाना।

हो गई रोज की इक कसरत
गोया मैं हूँ जिम में हर वक्त,
भीतरी पेशियाँ हो गईं चुस्त
तेवर हुए जैसे नर्म–ओ–सुस्त!

लेकिन लहजे में हल्की सी चूक
दिन के अन्त में गर हो जाती,
बस जरा सी यह फिसलन भर
पूरे किए पर पानी फिरा जाती।

'कड़क, कठोर और बदमिजाज है!'
लहराती हवाएँ जैसे गाने लगतीं,
'क्यों उसकी मनमर्जी सहें हम?
क्यों वह लाए साथ में सख्ती?'

'नर्म , कोमल घास–सी हमारी
भावनाओं को ठेस मत पहुँचाओ,
गुजरना हो इधर से गर तुम्हें
बोलो तभी, ध्यान हमारा लाओ।'

'हम नहीं देंगे तुमको वह जो
कुर्सी पे चढ़ तुम हो माँगती,
हमारे भी हैं कुछ तो ख्यालात
बेहतर होगा, रहो तुम जानती!'

'हमारे जज्बात का करो लिहाज
प्रेमपूर्वक और नरमाई के साथ ,
तब शायद हम धीरे–धीरे हों
एकत्र तुम्हारी कुर्सी के पास।'

'पर जो तुमने एक बार भी
शब्दों से पहुँचाई हमें चोट,
समझो तुम रहोगी अकेली
देंगे तुम्हारे खिलाफ वोट।'

'नहीं सुनोगी हँसी हमारी
गायब रहेगी मुस्कान सारी,
इन्तजार करोगी देर तक
और राह तकोगी हमारी। '

मैं चुपचाप ले अपना स्थान
थाम बैठती आशा की धुरी,
अपनी गति धीमी करने से
गर फैले शान्ति और खुशी।

कुर्सी फिर मुझे सहलाती
देखने को यह उकसाती,
शान्ति और हिलमिलकर काम
की स्थिति क्यों नहीं बन पाती?

अपनी तलवारें रखकर अलग
इक को दूजे से मिले मदद,
इस मकसद से कुर्सी पर बैठती
मैं माँ की भूमिका में एक अदद।

तो देखा आपने कैसे, मैं ऊँची
कुर्सी पर चढ़ती, रही उतरती,
अब निकल आई हूँ दूर इतनी
कि कुर्सी गई है बिखर–सी ।

कोई नहीं जानता क्या कोशिशें
की बैठाने को मैंने पटरी सही,
पर मेरा बढ़ता धीरज कहता है
कि फर्क इससे पड़ता कुछ नहीं।

जीवन समझदारी से हो भरा
ऊँची कुर्सी में रखा है क्या?
मैंने कोशिश जोश से की है,
यही सच है, अब होने दो बयाँ ।

●●●

(मूल अँग्रेजी कविता का हिन्दी रूपान्तरण : राजेश उत्साही)

नीरजा राघवन अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी रिसोर्स सैन्टर, बंगलौर में एकेडमिक्स एण्ड पैडागॉजी टीम की सलाहकार हैं। यह कविता उन्होंने तब लिखी जब एक आवासीय स्कूल की वाइस–प्रिंसिपल और फिर प्रिंसिपल के रूप में दो वर्ष का कार्यकाल पूरा करने के बाद उसे छोड़ने का निर्णय लिया। उन्हें लगा कि प्रशासन उनकी अभिरुचि के अनुकूल नहीं है, इसलिए वे उसे छोड़कर शैक्षणिक सलाहकार और स्वतन्त्र लेखिका बन गईं। उनसे neeraja@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।